LEARN GEETA
तस्मात् योगी भवार्जुन

॥ श्रीहरिः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 13: क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

2/3 (श्लोक 11-21), शनिवार, 04 जनवरी 2025

विवेचक: गीता विदूषी सौ वंदना जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/-8L8-NqQGro

तत्त्व ज्ञान से स्वयं की पहचान

गीता परिवार के सुमधुर गीत, सदैव रक्षक हनुमान स्तुति हनुमान चालीसा पाठ, परम्परागत दीप प्रज्वलन एवम् गुरू वन्दन, मङ्गलाचरण सहित, माँ सरस्वती, भगवान् वेदव्यास जी, ज्ञानेश्वरजी महाराज और सद्गुरू स्वामी गोविन्ददेव गिरिजी महाराज के चरणों में कोटि-कोटि वन्दन करते हुए आज के विवेचन सत्र का शुभारम्भ हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता, अनुपमेय गीत है, जो प्रत्यक्ष समराङ्गण में श्रीभगवान् ने अर्जुन के माध्यम से सम्पूर्ण मानव जाति व सम्पूर्ण विश्व के चराचर के कल्याण के लिए गाया। चतुर्थ स्तर के गीता प्रेमी और गीता साधकों के समक्ष आज इस सत्र में अत्यन्त गम्भीर, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय का चिन्तन कर रहे हैं। तेरहवें अध्याय के मध्यांश में श्रीभगवान् ने निर्गुण तत्त्व का प्रतिपादन एवम् उस निराकार परमात्म तत्त्व तक पहुँचने वाले ज्ञानियों का वर्णन किया है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में विभाजन करते हुए, श्रीभगवान् ने इनके पृथक्करण की प्रक्रिया भी इस अध्याय के माध्यम से हमें सिखाई है।

इस अध्याय का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वरजी महाराज का उद्देश्य था कि समस्त मानवजाति के कल्याण हेतु, परब्रह्म तत्त्व का ज्ञान बोध हो जाये। वे ज्ञानेश्वरी के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व के लिए आनन्द का मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे।

"तैसा वाग्विलास विस्तारू, गीतार्थेंसी विश्व भरूं,
आनंदाचें आवारूं, मांडूं जगा ॥ ११६० ॥"

परमात्मा के सङ्ग हमारे अनन्य सम्बन्ध का, यदि हमें बोध हो जाए, तो हमें समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मानव योनि में उत्पन्न हुए सभी प्राणियों के समस्त दुःखों का एकमात्र कारण स्वयं की वास्तविक पहचान को भुलाकर केवल देह भावना में जीना है। हमने अपने आत्म तत्त्व को विस्मृत कर दिया। उसी निर्गुण तत्त्व का वर्णन और ज्ञान कराने वाला यह सुन्दर अध्याय है। श्रीभगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाजन कर दिया। एक है शरीर और दूसरा है उस शरीर में रहने वाला चैतन्य तत्त्व। एक जड़ है और दूसरा चैतन्य, एक सीमित है और दूसरा असीम।

इन दोनों के मिलाप से ही सृष्टि का सम्पूर्ण कार्य सम्भव है। क्षेत्र का यहाँ अर्थ खेत नहीं, अपितु श्रीभगवान् द्वारा वर्णित छत्तीस तत्त्वों से निर्मित देह है।

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥13.6॥

इन छत्तीस तत्त्वों में सम्मिलित हैं - दस इन्द्रियाँ और उनके दस विषय, मन, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्च महाभूत इत्यादि। अव्यक्त तत्त्वों से हमारी मूल प्रकृति अर्थात् शुद्ध प्रकृति के स्वरूप का निर्माण हुआ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवम् आकाश अपने मूल स्वरूप में तन्मात्रा कहलाते हैं परन्तु जब वे एक दूसरे से मिल जाते हैं तो पञ्च महाभूत में परिवर्तित हो जाते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी जो जड़ तत्त्व है उसमें, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश के कुछ अंश सम्मिलित हैं। व्यावहारिक रूप में इस तथ्य को समझने के लिए इसकी तुलना हम सौ प्रतिशत शुद्ध (चौबीस कैरट) सोने के उदाहरण से कर सकते हैं। सौ प्रतिशत शुद्ध सोने से आभूषण नहीं बनाये जाते। स्वर्णाभूषणों के निर्माण हेतु शुद्ध धातु में कुछ अशुद्धियाँ डाली जाती हैं, जिसके कारण उसका शुद्धता अङ्क परिवर्तित होता जाता है। कुछ आभूषण बाईस, कुछ तेईस, कुछ अट्ठारह और कुछ तो चौदह शुद्धता माप के भी बनते हैं।

ठीक इसी प्रकार चेतन के शुद्ध तत्व में विकारों की मिलावट हो तो देह पिण्ड का निर्माण होता है। समस्त प्रकृति में अन्य जीव जन्तुओं का निर्माण भी इसी भाँति छत्तीस तत्त्वों से सम्भव हो पाता है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतनाधृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।13.7।।

सङ्घात - हमारी देह का पूरा पिण्ड, चेतना व धृति के समन्वय से निर्मित और इसे विकारी कहा गया है।

इसके पश्चात् श्रीभगवान् ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जानने वाले ज्ञानी का वर्णन किया, क्योंकि किसने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया? वह सिद्ध नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति स्वयं के मुख से बता भी नहीं सकता। यदि हम कहें कोई अच्छा है तो किसी की अच्छाई हम किस प्रकार सिद्ध करेंगे? इसकी पहचान हमें उसके लक्षणों से होती है। कईं सकारात्मक लक्षण जैसे अनुशासित जीवन, किसी का अपमान नहीं करना, इत्यादि अनेक सद्गुण उसके जीवन से प्रस्फुटित होते हैं, अर्थात् अच्छाई की परिभाषा उसके प्राकट्य रूप में झलकती है, मात्र शब्दों से उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। व्यक्तियों के गुणों से, उनके व्यवहार से, उनके चाल-चलन से ही उनकी अच्छाई का प्रमाण प्राप्त होता है।

इसी प्रकार ज्ञान और ज्ञानी को पृथक् कर बताया नहीं जा सकता, लेकिन ज्ञान के गुणों का प्राकट्य जब होता है, तब वह व्यक्ति कितना ज्ञानी है, इसका सत्य स्वरूप भाँपा जा सकता है। इसका एक अन्य उदाहरण है, भूमि की उर्वरा शक्ति को जाँचना। भूमि कितनी उपजाऊ है या बञ्जर है इसका ज्ञात उसमें पैदा होने वाली फसल से होता है।

श्रीभगवान् ने भी ज्ञानी की परिभाषा देते हुए उनके लक्षणों का अति सुन्दर वर्णन किया है -

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥8॥

अमानित्व - जिसमें मान सम्मान की अपेक्षा न हो। विष्णु सहस्त्रनाम में श्रीभगवान् का एक नाम है, अमानी, जिसका अर्थ है, दूसरों से सम्मान की अपेक्षा रहित। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि उसमें श्रेष्ठत्त्व नहीं, अपितु वह अपने श्रेष्ठत्त्व का बोझ नहीं ढोता और अत्यन्त सहजता से अपना जीवन व्यतीत करता है। इसके अनेक प्रेरणादायक उदाहरण हमें सन्त महात्माओं के जीवन से मिलते हैं। उच्च कोटि के सन्त महात्मा किञ्चित भी अपने ज्ञान का प्रतिपादन नहीं करते। दम्भ, अभिमान, पाखण्ड, निश्छल, अहिंसा, इत्यादि लक्षणों का वर्णन श्रीभगवान् ने आठवें श्लोक में दिया।

अहिंसा - का वास्तविक अर्थ जानने की आवश्यकता है। हमारे देश में कभी-कभी इसका अनुचित अर्थ निकाला जाता है। हम दूसरों का अत्याचार सहें पर प्रतिकार न करें यह अहिंसा नहीं।

ज्ञानेश्वरजी महाराज की अहिंसा की व्याख्या सर्वोपरि है।

"आणि जगाचिया सुखोद्देशें, शरीरवाचामानसें,
राहाटणें तें अहिंसे, रूप जाण ॥ ११४ ॥"

जगत के कल्याण के लिए शरीर, मन और वाणी से प्रयासरत रहना अहिंसा है। यदि हमारे देश पर किसी ने आक्रमण किया तो शत्रु की हिंसा करना वास्तविक अहिंसा होगी। किसी जल्लाद ने कर्त्तव्य रूप में किसी को फाँसी पर चढ़ाया तो यह हिंसा नहीं कहलाएगी। इस सत्य को पहचानना आवश्यक है, ताकि अन्याय और अहिंसा का भेद स्पष्ट हो सके। श्रीमद्भगवद्गीता, एक क्षत्रिय के मुखारविन्द से प्रवाहित हुई, कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में उपस्थित उसका श्रोता भी क्षत्रिय ही था। अगर अहिंसा की यह व्याख्या श्रीभगवान् को स्वीकार्य होती कि जब कोई हमारे साथ अन्याय करे, हम उसका प्रतिकार न करें, उसकी हिंसा ना करें, तो अर्जुन के लिए उनका उपदेश कुछ इस प्रकार होता। "हे अर्जुन, तुम इन लोगों को मत मारो, यहाँ से चले जाओ।" अर्जुन तो रण छोड़कर जाना ही चाहते थे, यदि श्रीभगवान् भी उन्हें अनुमति दे देते और कहते कि जाओ गङ्गा मैया के पावन तट पर या हिमालय की कन्दरा में जाकर अपने आत्मध्यान के लिए तपस्या करो। ऐसा श्रीभगवान् को नियत नहीं था। अर्जुन को उनके क्षत्रिय कर्त्तव्य और धर्म का बोध करने के लिए ही श्रीभगवान् के मुखारविन्द से ज्ञान की अविरल धारा प्रस्फुटित हुई जो युगों-युगों तक मानव कल्याण के लिए ज्ञान का प्रकाश स्त्रोत है। हमें अनेकों कारणों से क्षत्रिय कर्त्तव्य के रूप में हिंसा करनी होती है, घर में भी हमें हिंसा करनी पड़ती है, जन्तुओं की हिंसा करनी पड़ती है, मच्छरों की हिंसा करनी पड़ती है। जब हिंसा किसी के कल्याण के लिए की जाये, कर्त्तव्य के रूप में की जाये, तो वह अहिंसा ही कहलाती है। यही अहिंसा की शास्त्रों में शुद्ध व्याख्या है।

अहिंसा परमो धर्मः धर्म हिंसा तथैव च:।

अहिंसा परम धर्म है। किसी को बिना कारण कष्ट देना अधर्म है और वह हिंसा कहलाएगी, लेकिन अहिंसा यदि धर्म या कर्त्तव्य के रूप में करनी पड़े तो वह अहिंसा ही कहलाएगी। श्रीभगवान् ने शान्ति, आर्जवम, सरलता, क्षमाशीलता, सहन करने की शक्ति, इत्यादि गुण आन्तरिक एवम् बाह्य दोनों रूपों में निरूपण किये हैं।

ज्ञानेश्वरजी महाराज ने इसकी बहुत सुन्दर, अदभुत व्याख्या की है।

अनक्रोशक क्षमा. जय आपाराशि प्रयोगतमा, जाणते थे महिमा, ज्ञाना सागा।

ज्ञानेश्वरजी महाराज समझाते हैं कि सहज क्षमाशील व्यक्ति कैसे क्षमा प्रदान करता है। आक्रोश करते हुए की गई क्षमा अथवा क्षमा करने के उपरान्त भी उसको बार-बार याद करते रहना, यह अनुक्रोश है, क्षमा नहीं। ज्ञानेश्वरजी महाराज ने अपने जीवन में बाल्यकाल से ही अनेकों अत्याचार सहे। उनके परिवार ने समाज की अनगिनत, अमानवीय यातनाएँ सहीं, उन्हें समाज से बहिष्कृत किया गया इस पर भी उन सबके प्रति ज्ञानेश्वरजी महाराज के ह्रदय में कोई कटु भाव नहीं, कोई विषमय शब्द नहीं, कहीं पर भी वह पछतावा नहीं। ऐसी अनक्रोशक क्षमा!

जय आपाशी प्रयोगतमा, जाणते थे महिमा, ज्ञाना सागा।

यही सत्त्व का ज्ञान है। ऐसी क्षमाशील वृत्तियों के अनेकानेक उदाहरण हमें सन्त महात्माओं के जीवन में सहज प्राप्त हैं। इतिहास में अनेकों सन्त महात्माओं के जीवन में समाज द्वारा किये गए अमानवीय, अवाञ्छित प्रसङ्गों के प्रमाण हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानों उनकी सहनशील वृत्ति की परीक्षा ली जा रही हो। गौतम बुद्ध जी के जीवन का भी एक अविस्मरणीय प्रसङ्ग है। उनके हाथ पर किसी ने थूक दिया और जब उन्होंने बिना कोई प्रतिक्रिया दिखाए अपना हाथ पोंछ दिया और प्रतिकार में केवल इतना ही कहा कि, 'क्या तुम्हें और कुछ कहना है?' विपक्षी यह उत्तर पाकर आश्चर्य चकित रह गया। उसके अनुमान से तो गौतम बुद्ध को क्रोध आना चाहिए था। उन्होंने गौतम बुद्ध से पलटकर पूछा कि क्या आप मुझ पर गुस्सा नहीं करेंगे? तब गौतम बुद्ध ने उत्तर दिया कि, "आप की इच्छानुसार यदि मैं क्रोधित हुआ तो मैं आपके पराधीन हो गया। मैं आपके पराधीन नहीं हूँ, स्वाधीन हूँ।" उस व्यक्ति को अपने कृत्य का पछतावा हुआ और दूसरे दिन क्षमा याचना हेतु उसने गौतम बुद्ध के पैर पकड़ लिये।

गौतम बुद्ध जी ने फिर कहा, "और कुछ कहना चाहोगे? मुझे पहले पता चल गया कि आप क्या कहना चाहते हैं।" उस व्यक्ति ने कहा, "मुझे क्षमा कर दीजिये।" इस पर गौतम बुद्ध का उत्तर था, "आप जब क्षमा चाहेंगे, तब मैं क्षमा करूँ, तो मैं फिर से पराधीन हो गया। मैं तो स्वाधीन हूँ। मैंने कल ही आपको क्षमा कर दिया था।" ऐसी क्षमाशील वृत्ति के वे अधिकारी थे!

एकनाथजी महाराज भी किसी पर गुस्सा ही नहीं करते थे। उन्हें क्रोधित करने के लिए तो शर्तें लगती थीं। भारतीय संस्कृति में एक से बढ़कर एक उत्कृष्ट ज्ञानियों के प्रेरणादायक उदाहरण हैं जिनके व्यवहार से सभी दैवीय विशिष्टताओं के लक्षण प्रस्फुटित होते हैं।

श्रीभगवान् कहते हैं - **आचार्योपासनं** - उनके जीवन में गुरु भक्ति की परिपूर्णता होती है। ज्ञानेश्वरजी महाराज अपनी सारी सेवा, भगवत्सेवा, ज्ञानेश्वरी, गुरु के चरणों में समर्पित कर देते हैं।

"किंबहुना तुमचें केलें, धर्मकीर्तन हें सिद्धी नेलें,
येथ माझें जी उरलें, पाईकपण ॥ १७९३ ॥"

यह सारा धर्म कीर्तन आपने सिद्धि तक पहुँचाया है गुरुदेव और इसलिए मैं तो केवल आपका सेवक हूँ, ऐसी भावना उनकी रग-रग में बसती थी। आचार्य की उपासना का अर्थ होता है **उप आसन -** उनके समीप बैठना, उनके कथनों का ध्यान से श्रवण करना।

श्रीभगवान् ज्ञानियों की एक और अनमोल विलक्षणता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उनकी भक्ति अनन्य है।

मयि, च, अनन्ययोगेन, भक्तिः, अव्यभिचारिणी,
विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिः, जनसंसदि।।13.10।।

अनन्य, या जिसे इस सत्य का ज्ञान है कि एक ही परमात्मा सब में हैं, और वह उसी को प्राप्त करने के लिए आतुर है। जिस प्रकार बालक को रिझाने के लिए माँ कितने सारे खिलौने दे देती है, बालक कुछ पल तो खिलौनों से रीझता है लेकिन फिर माँ के लिए एक आर्त पुकार लगाता है कि मुझे आप ही चाहिए, खिलौने नहीं।

उसी प्रकार ज्ञानी भक्त के मन में भी ईश्वर मिलन की आस होती है, अन्य कुछ नहीं भाता। श्रीभगवान् इसे **अव्यभिचारिणी भक्ति** कहते हैं, यानि भक्त की भक्ति श्रीभगवान के लिए, अन्य विषयों के लिए नहीं। उन्हें अन्य भोगों की या कुछ और प्राप्ति की चाह नहीं होती। केवल परमात्मा की अतुलनीय चाह उनमें कूट-कूट कर विद्यमान होती है। इसी कारण उन्हें एकान्त का सेवन अधिक भाता है।

विविक्तदेशसेवित्वम् - बीच-बीच में इस संसार से मुख मोड़कर अन्तर्यात्रा को महत्त्व देते हैं। परमात्मा के साथ एकाकार होने के सभी मार्गों का अनुसरण करते हैं।

अरतिः, जनसंसदि - लोगों से सम्पर्क थोड़ा कम करते हैं, अन्तर्यात्रा को महत्त्व देते हैं। एकान्त सेवन भी अति कठिन होता है, इसलिए सत्सङ्ग किया जाता है, अर्थात् सम विचारों वाले लोगों की सङ्गत में रहना। रामदासजी स्वामी कहते हैं कि कभी एकान्त में रहना, तो कभी लोकान्त में रहना चाहिए और लोकान्त में सत्सङ्गति के साथ ही समय व्यतीत करना चाहिए। ऐसा करने से ईश्वर भक्ति का मार्ग धीरे-धीरे प्रशस्त होता जाता है।

श्रीभगवान् कहते हैं- ज्ञानी के जीवन में उस दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान की चाह उसके लिए सर्वोपरि होती है। ज्ञान प्राप्ति के लिए उसके भीतर एक प्रकार की छटपटाहट निर्मित होती है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं(न्), तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्, अज्ञानं(म्) यदतोऽन्यथा॥13.11॥

अध्यात्मज्ञान में नित्य-निरन्तर रहना, तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सब जगह देखना - यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो ज्ञान है (और) जो इसके विपरीत है वह अज्ञान है - ऐसा कहा गया है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि जीवन में आत्मज्ञान ही सर्वोपरि है। जब तक हमें स्वयं का बोध नहीं, तब तक हमारी समस्याओं का समाधान भी नहीं हो सकता। रमण महर्षि ने भी कह दिया कि मैं कौन हूँ, यह पहचानना और जानना नितान्त आवश्यक है। अध्यात्म ज्ञान इसी को कहते हैं। सामान्य जन मानस के लिए अध्यात्म शब्द का अर्थ है कि बड़े बड़े ग्रन्थ पढ़ना, वे श्रीमद्भगवद्गीता के विवेचकों से भी कई बार प्रश्न कर लेते हैं कि आप तो अति धार्मिक हो, इसलिए शास्त्र पढ़ते होंगे, अध्यात्म पढ़ते होंगे।

वास्तविकता में अध्यात्म शब्द का अर्थ होता है - अधि आत्म, अधि या अन्दर और आत्म या स्वयं में प्रवेश करना।

अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं- श्रीभगवान् कहते हैं कि अध्यात्म के ज्ञान में नित्य जो स्थित रहता है, अर्थात् अपने स्वरूप की मूल पहचान का जिसे आभास हो गया। वह केवल देह बुद्धि में नहीं जीता, अपितु स्वयं की वास्तविक पहचान का निरन्तर अनुसन्धान करता रहता है। स्वयं को भली-भाँति पहचानना, अपने लक्ष्य की और निरन्तर प्रयासरत रहना ही हमारा परम ध्येय है।

अध्यात्म स्वयं की पहचान।
"पाहणे आपणिास आपण, या नाव ज्ञान."

रामदास स्वामी जी कहते हैं कि स्वयं को जानना यही ज्ञान है. हम मनुष्य का जन्म लेकर आए और मनुष्य योनि में जन्म ही एक ऐसा अवसर प्रदान करता है, जो योग स्थिति तक पहुँचाता है। शेष सब भोग योनियाँ हैं, केवल यही एक योग योनि है।

आपुला आपण पेया। विसर जो धनंजया।
तेचि रूप यया। अज्ञान असे।।

ज्ञानेश्वरजी महाराज कहते हैं कि हम स्वयं को भूल गए।
इसीलिए श्रीभगवान् यहाँ पर कहते हैं-

अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं, तत्वज्ञानार्थदर्शनं- उस तत्त्व ज्ञान के रूप में उस परमात्मा की पहचान।

तत्त्व का अर्थ है, उसका स्वरूप।
तत् अर्थात् वह,
त्व अर्थात् परमात्मा और तत्त्व अर्थात् उसका स्वरूप। जैसे हम कहते हैं बालकत्त्व अर्थात् बालक का स्वरूप, बालक का स्वभाव। वृद्धत्त्व - वृद्ध का स्वरूप, वृद्ध का स्वभाव।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम् - तत्त्व अर्थात् परमात्मा को जानना, परमात्मा के स्वभाव और स्वरूप को जानना, यही जानने योग्य ज्ञान है। सम्पूर्ण सृष्टि का, कितना भी अन्य प्रपञ्च का ज्ञान प्राप्त हो गया, श्रीभगवान् उसे यहाँ अज्ञान कह देते हैं। जिस प्रकार किसी भी परीक्षा में, प्रश्न पत्रिका में पूछे गए अनेक प्रश्नों में एक प्रश्न अनिवार्य होता है। यदि आप उसका उत्तर न देकर अन्य प्रश्नों में ही उलझकर समय गँवा देते हैं तो आप परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाते। उसी प्रकार मनुष्य जीवन की यह बड़ी विडम्बना है कि वह इस सृष्टि में आता है और अन्य सारी आपा-धापी में, अन्य सभी समस्याओं को सुलझाते-सुलझाते जीवन के अन्त तक पहुँच जाता है और स्वयं की सही पहचान को ही विस्मृत कर देता है, अथवा स्वयं को पहचानने के लिए कोई प्रयास ही नहीं करता। श्रीभगवान् कहते हैं कि उस अज्ञान में रमें हुए जो भी लोग हैं, वे इसी प्रकार अपना सम्पूर्ण जीवन अज्ञानता में ही नष्ट कर देते हैं और जीवन के मूल तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते।

एक प्रसिद्ध उद्योगपति थे जिनका कार निर्माण का बहुत बड़ा कारखाना था। अपनी जीवनी में उन्होंने लिखा कि उन्होंने जीवन काल में बहुत सारा धन अर्जित किया, जीवन के सभी भोग उन्हें प्राप्त हुए, फिर भी उन्हें अपने जीवन में अधूरेपन की अनुभूति होती थी। वे अपनी इस मनः स्थिति को समझ नहीं पा रहे थे, इसलिए अपनी समस्या उन्होंने अपने मित्रों और परिवारजनों से साझा की। उनकी इस परिस्थिति के उपाय में उनके प्रियजनों का सुझाव रहा कि उन्हें मानसिक दौर्बल्य आ गया है, अतः किसी मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ (psychiatrist) से उपचार करवाना होगा। वास्तविकता में यह छटपटाहट मनुष्य की स्वयं की पहचान न होने के कारण होती है। हम अपने जीवन काल में कितनी ही उपलब्धियाँ प्राप्त कर लें, कितने ही ऐश्वर्य के साधन बटोर लें पर जब हमें ज्ञात होता है कि इतना सब कर लेने के बाद भी मुझे यहाँ से जाना है तो छटपटाहट होती है। जिस मनुष्य ने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया कि मैं उस अविनाशी आत्म तत्त्व का ही स्वरूप हूँ, फिर उसे अपने जीवन के अन्त या उसकी निरर्थकता की चिन्ता व्याकुल नहीं करती।

आगे, श्रीभगवान् कहते हैं कि ज्ञेय का अर्थ है जानने योग्य। यह अनिवार्य प्रश्न है और इसे कदापि छोड़ नहीं देना, अन्यथा समय समाप्त हो जाएगा और तब याद आएगा कि हमने स्वयं की पहचान करने के लिए कुछ भी नहीं किया।

गीता जी के मार्ग पर हम चल पड़े हैं और श्रीभगवान् अर्जुन के माध्यम से हमें बताना चाहते हैं कि अपने अविनाशी स्वरूप की पहचान अवश्य करें क्योंकि वही तत्त्वज्ञान है।

13.12

ज्ञेयं(म्) यत्तत्प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं(म्) ब्रह्म, न सत्तन्नासदुच्यते॥13.12॥

जो ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञान से जानने योग्य) है, उस (परमात्मतत्त्व) को मैं अच्छी तरह से कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य (अमरता) का अनुभव कर लेता है। वह (ज्ञेय-तत्त्व) अनादिवाला (और) परम ब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता है (और) न असत् ही (कहा जा सकता है)।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं-

ज्ञेयं - जिसे हम जान सकते हैं।
यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते - जो जानने योग्य है जिसे जानना चाहिए, जिसे जानने के पश्चात् मनुष्य अमृत तत्त्व की प्राप्ति कर लेगा। मनुष्य जब अपने अविनाशी स्वरूप को पहचान लेता है, तो उसे स्वरूप के अमरत्व का बोध हो जाता है और यह ज्ञान प्राप्त कर वह मृत्यु के डर से भी पार हो जाता है।

मृत्यु भयो न विभेम्यहम्

राजा परीक्षित ने श्रीमद्भगवद्गीता का पान करने के बाद कह दिया कि मृत्यु के डर से अब मैं परे हूँ।

हम लोग कितना भी भोग पदार्थों का अर्जन कर लें, फिर भी अधूरापन सताता है। हम कितना खान-पान करेंगे, कितना देखेंगे, कितने पर्यटन या धार्मिक स्थलों पर जाएँगे, कितनी तीर्थ यात्रा करे लेंगें, सभी की कोई न कोई सीमा तो होगी लेकिन जिस अलभ्य धन को प्राप्त करने के बाद हमारी समस्त इन्द्रियाँ एवं मन तृप्त हो जाता है, देखने की, सुनने की, खाने की, भोगने की, सारी इच्छाएँ मानों समाप्त हो जाती हैं, ऐसा अद्वितीय सुख तो केवल परमानन्द की प्राप्ति से ही सम्भव है, जिसे अमृत तत्त्व कहते हैं।

अनादिमत्परं ब्रह्म - आदि जिसका आरम्भ है, अनादि अर्थात् जिसका आरम्भ नहीं। जिसका आरम्भ है उसका अन्त होना अनिवार्य है, लेकिन वह जो परब्रह्म तत्व है वह अविनाशी है।

सत्तन्नासदुच्यते - उसे न सत् कहा जाता है, न असत्। वह इन दोनों के परे है, दोनों को समाए हुए है। यह परब्रह्म तत्त्व जानने योग्य है।

श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि इस परब्रह्म तत्त्व को जानने की प्रक्रिया अपने जीवन में कहीं न कहीं, किसी पड़ाव में आरम्भ कर देनी चाहिए।

श्रीभगवान् ने पहले क्षेत्र का वर्णन किया, उसके बाद आत्म ज्ञानी व्यक्ति का वर्णन कर दिया, आगे क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हैं।

13.13

सर्वतः(फ्) पाणिपादं(न्) तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः(श्) श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥13.13॥

वे (परमात्मा) सब जगह हाथों और पैरों वाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखों वाले (तथा) सब जगह कानों वाले हैं। (वे) संसार में सबको व्याप्त करके स्थित हैं।

विवेचन- श्रीभगवान् अब उस क्षेत्रज्ञ का वर्णन या उस अनादि निराकार तत्त्व का वर्णन करते हैं, वह कैसा है?

सर्वतः पाणिपादम् - पाणि अर्थात् हाथ और पाद यानी पग। जिसके चहुँ ओर हाथ और पैर हैं। इस श्लोक के कई अर्थ गीतार्थियों और ज्ञानियों ने समझे। इसका एक अर्थ हम सबके हाथ और पैर उसी के हैं, ऐसा भी हम ले सकते हैं, क्योंकि सभी में वही तत्त्व है। सभी में वह क्षेत्रज्ञ है और सभी क्षेत्र उसी का स्वरूप हैं। क्षेत्र भी वही है, क्षेत्रज्ञ भी वही है। हम यह कह सकते हैं कि परमात्मा रूपी उस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ में हम सारे छोटे क्षेत्र बसे हैं।
उदाहरण स्वरूप, यदि हम सागर में कई सारे घड़े रख दें, तो उस घड़े में भी सागर है और सागर उसके बाहर भी है। उसी प्रकार परब्रह्म तत्त्व सभी में है और उसके परे भी है। सारे पग और सारे हाथ उसी के हैं।

इस श्लोक का एक और एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वह कहीं से भी, कहीं पर भी कुछ भी कार्य कर सकता है।

सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् - यहाँ पर उस सगुण रूप परमेश्वर का भी वर्णन है, और निर्गुण का भी वर्णन है, जो निराकार है। मूर्ति रूप में भी परमात्मा है और अमूर्त भी परमात्मा है। ये दोनों परमात्मा के ही रूप हैं, यह जिसने समझ लिया, वही ज्ञानी है। श्रीभगवान् कहते हैं कि सभी जगह परमात्मा की आँखें हैं, मुख हैं और चहुँ ओर उसके कान भी हैं।

सर्वमावृत्य तिष्ठति - सभी को व्याप्त करते हुए यह व्यापक है।
परब्रह्म तत्त्व निराकार है। सभी उसी में बसे हैं। सर्वत्र जो कुछ घट रहा है, वह सब सुनता है, देखता है और जानता है। हम कहीं पर भी जाएँ, वह तत्त्व सर्वत्र विराजमान है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। कैलाश की कन्दरा से तुलना कर उन्होंने यह सत्य समझाया। वे कहते हैं कि उस गुफा में जब मन्दिर बनाया गया तो उस पर्वत के कुछ अंश शिवलिङ्ग बने, कुछ भाग से गणेश जी व अन्य देवताओं की मूर्तियाँ बनीं।

देव देवळु परिवारू । की जे फोडूनी डोंगरु ।

उस पर्वत को तराश कर जिस प्रकार मन्दिर का निर्माण हुआ, अनेक देवी देवताओं की मूर्तियाँ बना दी गयीं, शिवलिङ्ग बना, पार्वती जी की प्रतिमा बनी, लेकिन वे सभी उस पर्वत का ही अङ्ग हैं। उसी प्रकार यह समस्त सृष्टि उसी सर्वव्यापी, सर्व विराजित परब्रह्म तत्त्व में ही समायी हुई है, सारे हाथ, सारे पग, आँखें, कर्ण और सारे मुख उसी के हैं।

गुरुदेव ने एक बहुत सुन्दर बात कही थी - जिस प्रकार से विद्युत की हम कल्पना करते हैं, जिस प्रकार से उपकरणों में वह चैतन्य तत्त्व, ऊर्जा प्रदान करती है, लेकिन विद्युत में बोध (consciousness) नहीं है। वह किसी को जानती नहीं है। अगर विद्युत में बोध (consciousness) आ जाये, वह सब को जानने लगेगी, तो वह परब्रह्म तत्त्व की भाँति हो जाएगी। वह

परमात्मा तत्त्व, वह चैतन्य तत्त्व, परब्रह्म तत्त्व, वह चेतना है, जो सबको जानती है।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति। हमारे ज्ञानी, सन्त महात्मा उस परम सिद्ध तत्त्व को प्राप्त कर, अपने में और अन्य लोगों में भेद नहीं कर पाते, क्योंकि यह अध्यात्म का super X ray हर एक के चैतन्य तत्त्व तक पहुँचता है, इसलिए वह देह रूप में किसी को देखते ही नहीं है।

ठाकुर रामकृष्ण देव जी के जीवन का प्रसङ्ग है। उन्हें जब अन्त में कर्क रोग (cancer) हुआ और कहा जाता है कि इस कारण उन्हें मिठाई बहुत भाती थी। तब उन्होंने कहा था कि मिठाई तो एक निमित्त है, जिसके द्वारा मैंने इस सृष्टि के साथ एक अपना सम्बन्ध (कनेक्शन) बना लिया है। ठाकुर जी की अवस्था देख विवेकानन्द जी बहुत दुःखी होते थे और वे ठाकुर जी को मिठाई खाने से रोकते थे। वे उनसे विनती करते थे कि जगदम्बा माता जी से रोग से मुक्ति के लिए प्रार्थना करें। ठाकुर जी उन्हें समझाते थे कि मेरा मन जगदम्बा में एकाकार हो गया है। विवेकानन्द जी ने कहा कि आप अपने गले में अपना मन एकाग्र कीजिए ताकि आप उस कैंसर (cancer) से मुक्त हो पाएँ। तो ठाकुर जी ने उत्तर दिया कि जिसका मन उस चैतन्य माई जगदम्बा में लग गया, वह अब इस देह में क्यों लगाएगा? और क्यों दुःख करते हो? इतने सारे मुखों से कौन खा रहा है? मैं ही तो खा रहा हूँ। मुझ में और आप में भेद नहीं है। आप खाते हैं तो मुझे लगता है कि मैं ही खा रहा हूँ। यही भेद रहित दृष्टि उस ज्ञानी की होती है, जिसको समझ में आता है कि वह निराकार तत्त्व ही सभी में सगुण साकार होकर कार्य करवा रहा है, सभी उसी के रूप हैं।

बारह जनवरी को स्वामी विवेकानन्दजी की एक सौ बासठवीं जयन्ती है।

13.14

सर्वेन्द्रियगुणाभासं(म्), सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं(म्) सर्वभृच्चैव, निर्गुणं(ङ्) गुणभोक्तृ च॥13.14॥

वे (परमात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित हैं (और) सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को प्रकाशित करने वाले हैं; आसक्ति रहित हैं और सम्पूर्ण संसार का भरण-पोषण करने वाले हैं; तथा गुणों से रहित हैं (और) सम्पूर्ण गुणों के भोक्ता हैं।

विवेचन- सगुण और निर्गुण दोनों का प्रतिपाद. इसलिए हमारे सन्त महात्मा कहते हैं।

सगुण निर्गुण दोन्ही जाची अंगे।
तोचि आम्हा संगे क्रीडा करी।।

केवल सगुण की आराधना करने वाले भी परब्रह्म तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते, अधूरे रह जाते हैं और केवल निर्गुण की आराधना करने वाले भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते, क्योंकि वे सब मूर्ति को नहीं मानते और मूर्ति में ही परमात्मा बसे हैं। हम मूर्ति के ही रूप हैं। हमारी देह की एक मूर्ति हमें प्राप्त हो गई है, इसलिए श्रीभगवान् इस श्लोक में अपने दोनों रूपों को समझा रहे हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सभी इन्द्रियों के विषयों को यह जानता है। परब्रह्म तत्त्व सभी को जानने वाला है और इतनी गूढ़ता से समझता है कि उसे इन्द्रियों की भी आवश्यकता नहीं है, लेकिन वह निर्गुण भी है। वह सभी इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है। वह देख सकता है, सुन सकता है, वह स्पर्श भी जानता है, लेकिन इन सब संवेदनाओं के लिए उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं, **अतः सर्वेन्द्रियविवर्जितम।**

असक्तं सर्वभृच्चैव, वह आसक्ति रहित है। किसी के लिए उसमें कोई भेद या लगाव (partiality) नहीं है। सभी उस के लिए समान हैं। जिस प्रकार सूरज का प्रकाश सबके लिए समान है. चन्द्रमा की चाँदनी सबके लिए समान है, जल की शीतलता सबके लिए समान होती है, उसी प्रकार परब्रह्म तत्त्व सभी के लिए समान होता है।

सर्वभृत यानि सर्भ का पालन-पोषण करने वाला, सभी को धारण करने वाला, **निर्गुणं गुणभोक्तृ,** निर्गुण होकर भी गुणों का भोग लेता है। वह गुण रहित है लेकिन सारी सृष्टि त्रिगुणात्मिका प्रकृति की होने के कारण और वह परमात्मा का ही रूप होने के

कारण वे परमात्मा इस मूर्ति के माध्यम से उन गुणों का भी भोग लेते हैं, ऐसा श्रीभगवान् यहाँ पर समझा रहे हैं इसलिए सगुण-निर्गुण इस के उलझन में नहीं पड़ना और दोनों में पक्षपात नहीं करना। स्वामी विवेकानन्द जी भी जीवन के अन्तिम दिनों तक अपने हाथ में जप की मालाएँ लेकर जप करते थे।

निराकार निराकारा देख ले वो माय।

ऐसे कहनेवाले ज्ञानेश्वर महाराज भी विट्ठल भगवान की सगुण आराधना, मूर्ति की पूजा करते थे। निराकार तत्त्व को जानने के बाद साकार मूर्ति की पूजा करना छोड़ना नहीं है।

रमणमहर्षि ने, 'मैं कौन हूँ? (Who am I?)' की खोज, इसका अन्वेषण करने का उपदेश दिया और उस ज्ञान तत्त्व को पा लेने के पश्चात् किसी ने उनसे पूछा कि आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद क्या सगुण मूर्ति की पूजा छोड़ देनी चाहिए? महर्षि ने इसके उत्तर में बताया कि मूर्ति की पूजा कब तक करनी चाहिए, जब तक मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है, जब तक मैं इस देह में हूँ और इस देह की भावनाएँ मुझे सताती हैं, तब तक निराकार को जानने के बाद भी उस साकार मूर्ति की पूजा छोड़नी नहीं है।

जिस प्रकार गङ्गाजी सागर से मिलती हैं, मिलने के बाद वापस नहीं आती, मिलती रहती हैं, उसी प्रकार उसके साथ अपना सम्बन्ध मूर्ति पूजा के रूप में बनाए रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए, इलेक्ट्रिकल इञ्जीनियरिङ्ग में विभव (potential) बनाए रखना पड़ता है। ग्यारह के वी की लाइन होती है, उसका विभव वहाँ स्थायी रखना (maintain) पड़ता है, उसी प्रकार उस निराकार तत्त्व के साथ एकाकारिता रखनी पड़ती है।

हम **देहवद्भिरवाप्यते**, अर्थात् जिसे देह का अभिमान है उसको सगुण आराधना ही अधिक भाती है क्योंकि कम कष्ट देने वाली होती है। निर्गुण जो स्वाद रहित, आकार रहित, गन्ध रहित स्वरूप है, उसका ज्ञान भी आवश्यक है।

ठाकुर रामकृष्णदेव जी के पास उनके दो शिष्य, एक निर्गुण आराधना का उपासक और दूसरा सगुण मूर्ति की पूजा करने वाला, एक विवाद को सुलझाने के लिए आये। वे दोनों ठाकुरजी से आग्रह करते हैं कि वे निर्णय कर बताएँ कि सगुण भक्ति श्रेष्ठ है या निर्गुण। ठाकुर जी एक शिष्य से प्रश्न किया कि क्या वह अपने सगुण, साकार परमात्मा को सर्वशक्तिमान मानता है? दूसरे से भी पूछा कि क्या वह अपने निर्गुण परमात्मा है को सर्वशक्तिमान मानता है कि नहीं? दोनों शिष्य अपने-अपने इष्ट को सर्वशक्तिमान मानते थे। ठाकुर जी ने तब दोनों को समझाया कि तुम्हारा सगुण, साकार, सर्वशक्तिमान परमात्मा अगर सर्वशक्तिमान है तो क्या उसमें निर्गुण होने की, निराकार होने की शक्ति नहीं है? दूसरे को पूछा तुम्हारा निराकार अगर सर्वशक्तिमान है तो क्या उसमें समूह रूप में अवतरित होने की शक्ति नहीं है? वह सब रूप में अवतरित हो सकता है। इन निरर्थक उलझनों में पड़कर ही सारे सम्प्रदाय निर्माण होते हैं और बहुत बार विडम्बना तो यह होती है कि संसार में युद्ध भी उसी के कारण होते हैं। हमारा सम्प्रदाय, हमारा धर्म, हम जिस परमात्मा को मानते हैं वही श्रेष्ठ, ऐसे भ्रम अशान्ति पैदा करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता ही ऐसा अनुपमेय ग्रन्थ है जो सर्व समावेशक है। इसके बारहवें अध्याय में सगुण भक्ति बताई और तेरहवें अध्याय में निर्गुण परमात्मा तत्त्व का वर्णन कर दिया। जैसे जिसकी क्षमता है, उसी प्रकार, व्यवहार।

ब्रह्मा जी के पास जब उनके तीनों पुत्र, देवता, दानव और मानव गए, तो उन्होंने ब्रह्मा जी से उपदेश माँगा। ब्रह्मा जी ने उन्हें एक ही अक्षर 'द' दिया और कहा कि इस उपदेश से तुम्हे जो भाए अथवा तुम्हारे लिए जो कल्याणकारी हो, वैसा ही करना।उपदेश तीनों के लिए एक ही था, परन्तु जिस प्रकार हम औषधि विक्रेता की दुकान में अपने लिए उचित दवा लेते हैं, ढेर सारी दवाईयों में जिस प्रकार जो हमारे लिए श्रेष्ठ है, हम उसका चयन कर लेते हैं लेकिन दूसरी को नकारते नहीं। ब्रह्मा जी ने द से दानवों के लिए कहा दया करो, मानवों के लिए कहा दान करो और देवताओं से कह दिया कि इन्द्रियों के भोगों में रमे मत रहो, उसका दमन करो।

इसी प्रकार निर्गुण रूप में भक्त ईश्वर के किसी भी गुण में अपनी आस्था स्थापित कर सकता है।

13.15

बहिरन्तश्च भूतानाम्, अचरं(ञ्) चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं(न्), दूरस्थं(ञ्) चान्तिके च तत्॥13.15॥

वे (परमात्मा) सम्पूर्ण प्राणियों के बाहर-भीतर (परिपूर्ण हैं) और चर-अचर (प्राणियों के रूप में) भी (वे ही हैं) एवं दूर-से-दूर तथा नजदीक-से-नजदीक भी (वे ही हैं) वे अत्यन्त सूक्ष्म होने से जानने में नहीं आते ।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि निराकार तत्त्व बाह्य अङ्ग में भी है और अन्तरङ्ग में भी है। चर और अचर, चलायमान व अचलायमान, सभी वस्तुओं में है। अभी मेरे सामने एक मेज़ है। उसके अणु (atom) में भी इलेक्ट्रॉन्स (electrons), प्रोटोन्स (protons) और न्यूट्रोंस (neutrons) होते हैं। इलेक्ट्रॉन्स ऑर्बिट (orbit) में घूमते हैं और प्रोटोन्स और न्यूट्रोंस, नुक्लियस (nucleus) में रहते हैं। कुछ न कुछ उसमें भी चलायमान है, इसलिए वह चैतन्य है।

श्रीभगवान् कहते हैं, **तत् सूक्ष्मत्वात्**, अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण हम उसे पकड़ नहीं सकते, क्योंकि वह व्यापक होता है।

जिस प्रकार पानी अपने बर्फ़ के रूप में कम जगह लेता है, पर पिघलने पर फैलता है और जब वह भाप बनता है तो सूक्ष्मता के कारण व्यापक हो सभी दिशाओं में व्याप्त हो जाता है, अर्थात् जितना सूक्ष्म तत्त्व, उतना वह व्यापक, जितना स्थूल, उतना व्याप्त। अब यह स्थूल और सूक्ष्म दोनों का संयोग है और ये एक दूसरे में कैसे मिल गए?

श्रीभगवान् कहते हैं, **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं(न्), दूरस्थं(ञ्) चान्तिके च तत्,** इस तत्त्व की विलक्षणता यह है कि वह बिल्कुल पास भी है, अन्दर भी है और व्यापक होकर दूर भी है, इसलिए उसे जानना कि किस प्रकार यह चैतन्य तत्त्व, क्षेत्रज्ञ के रूप में सभी के अन्दर विद्यमान होकर भी उस परमात्मा के एक प्रतिबिम्ब के रूप में है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विद्युत अनेक उपकरणों में अनेक तरह से अपना कार्य करती है।

कां पूर्ण कुंभ उलंडला। तेथ बिंबाकारु दिसे भ्रंशला।
परी भानु नाहीं नासला। तयासवें॥

ज्ञानेश्वरजी महाराज वर्णन करते हैं कि अगर एक कुम्भ में सूरज का प्रतिबिम्ब है, तो पानी के सूखने पर प्रतिबिम्ब विलुप्त हो जायेगा, लेकिन सूरज का अस्तित्त्व बना रहेगा। उसी प्रकार यह चैतन्य तत्त्व प्रतिबिम्ब के रूप में सदैव स्थापित है। गुरुदेव कहते हैं, परब्रह्म तत्त्व सभी में है, इसलिए कोई क्षेत्र या किसी की मृत्यु होने के बाद भी उस परमात्मा तत्त्व का कुछ भी नहीं बिगड़ता। सौ घड़े हैं, उन सौ घड़े में पानी है। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब सभी में आ सकता है। यदि कुछ घड़े फूट गए तो भी चन्द्रमा को कुछ हानि नहीं होती, केवल घड़े का नाश होता है, प्रतिबिम्ब चला जाता है, लेकिन बिम्ब वही रहता है। उसी प्रकार सभी में इस चैतन्य तत्त्व का प्रतिबिम्ब विद्यमान है।

13.16

अविभक्तं(ञ्) च भूतेषु, विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं(ङ्), ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥13.16॥

वे (परमात्मा) (स्वयं) विभागरहित होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियों में विभक्त की तरह स्थित हैं और (वे) जानने योग्य (परमात्मा ही) सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करनेवाले तथा उनका भरण-पोषण करनेवाले और संहार करनेवाले हैं।

विवेचन- उपर्लिखित श्लोक में घड़ों के उदाहरण में अलग-अलग घड़ों में पड़ा जल निश्चय ही विभक्त लगे, घड़ों के कारण अर्थात् भासमान प्रतीत होगा, पर घड़े के फूटते ही पानी एक दूसरे में मिल जाएगा।

उसी प्रकार, **अविभक्तं(ञ्) च भूतेषु, विभक्तमिव च स्थितम्।** ऐसे लगता है कि परब्रह्म चैतन्य तत्त्व विभक्त है क्योंकि अनेक

क्षेत्रों में वह बन्धिस्थ हो गया, इसलिए हमें वह विभक्त लगता है।

यह तत्त्व तीन तत्त्व रूपों में इस सृष्टि में विराजमान है। भूतभर्तृ, अर्थात् भरण-पोषण जब करता है, तब यह विष्णु रूप में होता है। ग्रसिष्णु अर्थात् रुद्र रूप से संहार करने वाला और प्रभविष्णु अर्थात् ब्रह्म देव के रूप में उत्पत्ति करने वाला। उत्पत्ति, स्थिति और लय की तीन अवस्थाएँ। उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा जी, स्थिति यानी पालन-पोषण करने वाले भगवान विष्णु और संहार करने वाले रुद्र या शङ्कर। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के सम्मिलित रूप दत्त भगवान, इन्हें त्रिगुणात्मक कहा जाता है। ये निर्गुण तत्त्व इन गुणों को धारण करते हुए त्रिगुणात्मक बन जाते हैं और इस सृष्टि का कार्य करते हैं। तीनों रूप - ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु, भूतभर्तृ, इसी निर्गुण परमात्मा, निराकार परमात्मा तत्त्व के तीन गुणों सहित रूप हैं।

इस प्रकार से हम यह कह सकते हैं- घटाकाश, मठाकाश या फिर महाकाश। घट में भी आकाश है। फिर यह घट अगर किसी कक्ष में रख दिया, तो कक्ष का भी एक आकाश होता है, लेकिन ऐसे लगता है कि घट में जो आकाश है, वह अलग है और बाहर जो महाकाश, यानी बाहर जो आकाश है, ये तीनों आकाश (space) अलग-अलग प्रतीत होते हैं। कक्ष की दीवारों के कारण, घट के आकर के कारण, इन सबमें समाहित आकाश अलग-अलग हैं। उसी प्रकार यह अविभक्त होने वाला परमात्मा तत्त्व भी सभी के अन्दर विराजित होने के कारण विभक्त जैसे लगता है।

तीर्थ यात्रा और अन्तर्यात्रा में एक अन्तर होता है। गुरुदेव कहते हैं कि तीर्थयात्रा से पुण्य की प्राप्ति होती है, अन्तर्यात्रा से आत्मिक शान्ति की प्राप्ति होती है, स्वयं की पहचान होती है। श्रीभगवान् यहाँ पर कहते हैं कि जिसने अन्तर्यात्रा का आरम्भ कर दिया उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं।

मोहे कहा ढूंढे रे बंदे,
मैं तो तेरे पास में,
नामे काबा, नामे काशी,
नामे रहा कैलाश में।

13.17

ज्योतिषामपि तज्ज्योति:(स्), तमसः(फ्) परमुच्यते।
ज्ञानं(ञ्) ज्ञेयं(ञ्) ज्ञानगम्यं (म्), हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥13.17॥

वे (परमात्मा) सम्पूर्ण ज्योतियों के भी ज्योति (और) अज्ञान से अत्यन्त परे कहे गये हैं। (वे) ज्ञान स्वरूप, जानने योग्य, ज्ञान से प्राप्त करने योग्य (और) सबके हृदय में विराजमान है।

विवेचन- बहुत महत्त्वपूर्ण बात श्रीभगवान् यहाँ कहते हैं- ज्योतिषामपि। ज्योति, अर्थात् ज्योतियों की भी ज्योति, जिसे देखने के लिए दीये की ज्योति की आवश्यकता नहीं है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योति:(स्), तमसः(फ्) परमुच्यते, अज्ञान से परे का प्रकाश।

ज्ञानं(ञ्) ज्ञेयं(ञ्) ज्ञानगम्यं (म्), हृदि सर्वस्य विष्ठितम् - ज्ञान, अर्थात् वह बोध स्वरूप है, ज्ञेयं अर्थात् जानने योग्य है और ज्ञानगम्यं, तत्त्व ज्ञान से जिसकी प्राप्ति होती है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय को एक सरल उदाहरण से समझते हैं। एक रसगुल्ला है। यह रसगुल्ला है, यह उसका ज्ञान और उसे जानने वाली मैं लेकिन जब मैं उस रसगुल्ले का सेवन करती हूँ तो यह रसगुल्ले की होने वाली अनुभूति, ये तीनों जब मिल जाते हैं, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान यह त्रिपुटी कहलाती है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन एक हैं।

श्रीभगवान् यहाँ पर कहते हैं, ज्ञानं, ज्ञेयं, ज्ञानगम्यं। तत्त्वज्ञान सबके हृदय में विराजित है।

श्रीभगवान् जगह-जगह पर उसका पता देते हैं।

ममैवांशो जीव लोके
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः

श्रीभगवान् जगह-जगह पर यह बताते हैं कि सभी के अन्दर - अब यहाँ कोई भेद नहीं, उच्चता-नीचता नहीं, राष्ट्र की सीमाएँ नहीं, साम्प्रदायिक भेद से अछूता, सभी केअन्दर - **हृदि सर्वस्य विष्ठितम।**

इसे जानने के लिए बाहर की ज्योति के प्रकाश की आवश्यकता नहीं, केवल अन्दर का दीपक जलाने की आवश्यकता है। गुरुदेव कहते हैं कि बाहर की ज्योति चली गई, कई बार बिजली चली जाती है। ऐसी स्थिति में कई वस्तुएँ अँधेरे के कारण नहीं दिखेंगी, लेकिन स्वयं का ज्ञान तो ओझल नहीं होता। स्वयं के ज्ञान के लिए बाहर की ज्योति की आवश्यकता नहीं होती, आत्म ज्योति की आवश्यकता होती है। उस चेतना द्वारा हम स्वयं को जानते हैं। उस पड़ाव तक पहुँचने वाले लोगों में ध्यान अवतरित होता है।

13.18

इति क्षेत्रं(न्) तथा ज्ञानं(ञ्), ज्ञेयं(ञ्) चोक्तं(म्) समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय, मद्भावायोपपद्यते॥13.18॥

इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेप से कहा गया है। मेरा भक्त इसको तत्त्व से जानकर मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं, परम ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हमारे अन्दर क्षेत्रज्ञ के रूप में है। क्षेत्रज्ञ के कारण सारे देह का या स्थूल जड़ का चलन होता है, इसलिए उसका मैंने सङ्क्षेप में वर्णन कर दिया।

इस वर्णन को जिसने अनुभूति के रूप में जाना, जैसे रसगुल्ले के उदाहरण में रसगुल्ला गोल है, सफेद है, वह मीठा होता है, उसमें चासनी होती है, यह उसका ज्ञान हो गया, लेकिन यह जब अनुभूति के रूप में परिणित हो जाएगा तब इसका वास्तविक स्वाद पता जलता है, वैसे ही श्रीभगवान् कहते हैं कि जिसने इसकी विशेष रूप से अनुभूति प्राप्त कर ली, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। श्रीभगवान् का मूल स्वरूप, मूल धर्म, मूल लक्षण, सत्, चित और आनन्द है। सत् यानी अनन्त, जो कभी असत् नहीं, चित्त अर्थात् असीम अखण्ड ज्ञान और आनन्द अर्थात् असीम सुख जो कभी खण्डित नहीं होता।

अपने देह में रहते हुए ही वह ज्ञानी व्यक्ति **मद्भावायोपपद्यते,** मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है। उसे परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है और फिर इस सृष्टि का कोई दुःख उसे किसी प्रकार से शोकाकुल नहीं कर सकता।

13.19

प्रकृतिं(म्) पुरुषं(ञ्) चैव, विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव, विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥13.19॥

प्रकृति और पुरुष - दोनों को ही (तुम) अनादि समझो और विकारों को तथा गुणों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न समझो। कार्य और करण के द्वारा होने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है (और) सुख-दुःखों के भोक्तापन में पुरुष हेतु कहा जाता है।

विवेचन- प्रकृति व पुरुष का अर्थ यहाँ स्त्रीलिङ्ग व पुल्लिङ्ग नहीं समझना है।

श्रीभगवान् कहते हैं कि सृष्टि भी अनादि है। प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही अनादि हैं, लेकिन एक विकारी है और दूसरा अविकारी है। विकारी और अविकारी के मिलाप से सृष्टि का कार्य गतिमान है।

सारे विकार प्रकृति के हैं और इसमें रहने वाला पुरुष या क्षेत्रज्ञ या चैतन्य तत्त्व पुरुष अविकारी है। श्रीभगवान् कहते हैं कि हमारे सन्त महात्मा उस अविकारी परमात्मा की भक्ति इसलिए करते हैं कि अपने सब विकार चले जायें, अपना क्षेत्र शुद्ध होता जाए, अन्तरङ्ग निर्मल होता जाए और हमारा मन उस परमात्मा तत्त्व का प्रतिबिम्ब बन जाए।

इसलिए कहते हैं-

इति वदति तुलसीदास शंकर शेष मुनि मन रंजनम्।
मम हृदय कंज निवास कुरु कामादी खल दल गंजनम्।।

तुलसीदास जी कहते हैं कि मेरे हृदय में राम जी आप आ जाएँगे तो मेरे सारे विकार नष्ट होने लगेंगे। अविकारी परमात्मा की भक्ति, मूलतः कुछ प्राप्ति के लिए हम करते हैं। यह मनुष्य जीवन की एक अनिवार्यता है। इसके साथ साथ अविकारी परमात्मा तत्त्व के साथ अपना नित्य सम्बन्ध जोड़ना भी आवश्यक है।

13.20

कार्यकरणकर्तृत्वे, हेतुः(फ्) प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः(स्) सुखदुःखानां(म्), भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥13.20॥

प्रकृति और पुरुष - दोनों को ही (तुम) अनादि समझो और विकारों को तथा गुणों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न समझो। कार्य और करण के द्वारा होने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है (और) सुख-दुःखों के भोक्तापन में पुरुष हेतु कहा जाता है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं, कार्य साधन और प्रकृति के त्रिगुणात्मक गुणों के कारण होता है। प्रकृति प्रत्येक कार्य के लिए हेतु यानी कारण है। कार्य प्रकृति के कारण होता है, लेकिन उसके भीतर जो आत्म तत्त्व या पुरुष तत्त्व है, वह स्वयं की पहचान भूल गया और स्वयं को प्रकृति के साथ उलने इतना एकाकार कर लिया कि प्रकृति के विकारों के कारण होने वाले सुख-दुःख, जीवात्मा के अन्दर जो पुरुष है, उसे भोगने पड़ते हैं।

13.21

पुरुषः(फ्) प्रकृतिस्थो हि, भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं(ङ्) गुणसङ्गोऽस्य, सदसद्योनिजन्मसु॥13.21॥

प्रकृति में स्थित पुरुष (जीव) ही प्रकृतिजन्य गुणों का भोक्ता बनता है (और) गुणों का संग (ही) उसके ऊँच-नीच योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है।

विवेचन- प्रकृति में स्थित पुरुष अर्थात् चैतन्य तत्त्व, प्रकृति के तीन गुणों का भोग लेता है। स्वयं की पहचान जो जीवात्मा है, उसे भुला देता है। वह वासना में लिप्त हो देह को स्वयं का स्वरूप मानने लगता है और अपनी मूल पहचान भूलने के कारण वह इन गुणों का भोग लेता है, इसलिए उसे अनेक योनियों में जन्म लेना पड़ता है क्योंकि उसने स्वयं के मूल स्वरूप को भुला दिया और देह में रहते हुए इस देह के विकारों को उसने भोगना प्रारम्भ कर दिया। अब इसलिए हमारे मन में यह प्रश्न आता है कि चैतन्य तत्त्व सभी के अन्दर है, अब यह एक दूसरे के साथ कैसे मिल गया?

इसका भी बहुत गुरुदेव ने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। जैसे एक लोहे का गोला अगर तपाया जाता है, तो वह बिल्कुल लाल दिखता है और वह अग्नि समान भासमान हो जाता है। लोहे का मूल वह गोला है लेकिन अब वह अग्नि समान प्रज्वलित लगता है और अग्नि को गोले का आकार मिल गया। अग्नि निराकार है लेकिन अब लाल गोले के समान गोल दिखने लगी और गोला अग्नि के समान लाल दिखने लगा। चैतन्य को आकार मिल गया और विकारी को चैतन्य के तेज की प्राप्ति। चैतन्य देह के कण-कण में बस जाने के कारण देह के साथ एकाकार हो जाता है और इसे गुरुदेव चित्त जड़ ग्रन्थि कहते हैं। यह गाँठ इतनी प्रभावशाली

बन जाती है कि हम इसे खोल नहीं पाते। यह गाँठ खोलने में जो सक्षम हो जाते हैं, वे बहुत ज्ञानी कहलाते हैं।

ते परमतत्त्व पार्था। होती ते सवर्था।
जे आत्मानात्म व्यवस्था। राजहंस।।

इसके साथ आज का विवेचन सत्र पूर्ण हुआ और प्रश्नोत्तर सत्र आरम्भ हुआ।

प्रश्नोत्तर सत्र:

प्रश्नकर्ता- सुधा दीदी
प्रश्न- ईश्वर तक कैसे पहुँच पाएँगे?
उत्तर- अपने मन को देह बुद्धि से अलग करते हुए श्रीभगवान् में मन लगाने से ही ईश्वर तक पहुँच सकते हैं। जहाँ सृजन होता है वहाँ सृजनकर्ता भी होगा ही। उस सृजनकर्ता परमात्म तत्त्व को जानने के लिए उसके साथ समय व्यतीत करना पड़ेगा। जितना अधिक आप अपनी साधना बढ़ाओगे, उतना ही अधिक उस परमात्म तत्त्व को जानते जाओगे। इसके लिया गुरु कृपा भी आवश्यक है। गुरु भी हमारी परीक्षा लेकर हमारा मार्ग प्रशस्त करते हैं। जितनी हमारी जिज्ञासा बढ़ती जाएगी हम उस परमात्म तत्त्व के उतने ही निकट होते जाते हैं।

प्रश्नकर्ता- श्वेता दीदी
प्रश्न- प्रकृति और पुरुष में, प्रकृति क्या हमारी देह है?
उत्तर- जी हाँ, यदि हम अपने स्वयं के परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रकृति अर्थात् हमारा शरीर और इस शरीर के भीतर जो चैतन्य है, परमात्मा का अंश है वह पुरुष है।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||
||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||